मुस्लिम पर्सनल ला

धार्मिक व सामुदायिक दृष्टिकोण से

सदरुद्दीन इस्लाही

विषय-सूची

बिस्मिल्लाहिर्रह्मानिर्रहीम

मुस्लिम पर्सनल ला

धार्मिक व सामुदायिक दृष्टिकोण से

क़ानून की ज़रूरत और अभिप्रेय–

क़ानून चाहे वह इंसानी जीवन के किसी भी विभाग से संबंध रखता हो, इन्सान और इन्सानी सभ्यता की एक अहम ज़रूरत है। इसके बिना न इन्सान की महानता क़ायम रह सकती है, न सभ्यता का कोई वजूद ही बाक़ी रह सकता है। यही क़ानून वह चीज़ है जिससे इन्सानी समाज 'समाज' बनता है। इसी से लोगों के अधिकारों की हिफ़ाज़त होती है और सामूहिकता को जीवन तथा शक्ति प्राप्त होती है। ज़ुल्म और बुराई की तबाहकारियों से शरण मिलती है, लोगों को न्याय और सन्तुष्टि मिलती है, इन्सानी सभ्यता को फूलने फलने का अवसर मिलता है। क़ानून की परिधि न हो तो हर तरफ महरूमी ही महरूमी फैली नज़र आएगी। इसलिए यह एक अटल हक़ीक़त है कि क़ानून का वजूद और क़ानूनी इदारों की स्थापना इन्सान की अपनी एक महानतम ज़रूरत की पैदावार और प्राकृतिक ज़रूरत का नतीजा है जिससे वह किसी हाल में भी अलग नहीं हो सकता।

अच्छे क़ानून की मौलिक विशेषताएं–

यह अटल हक़ीक़त क़ानून के लिए दो विशेषताओं को ज़रूरी क़रार देती है।

१– एक तो यह कि उसे समाज के लिए सफ़लता और प्रगति
का वास्तविक साधन होना चाहिए, क्योंकि यही वह उद्देश्य है,
जसके लिए क़ानून का वजूद अमल में आया है और जिसके लिए
न्सान ने पाबन्दियों को अपने ऊपर लागू किया है। इसलिए किसी
माज पर यदि कोई ऐसा क़ानून लागू हो जिससे यह उद्देश्य हासिल
होता हो तो यह उसकी कुरबानी बेकार ही समझी जाएगी और
सी हालत में न इस तथाकथित क़ानून के लागू होने की कोई वजह
ाक़ी रह जाएगी और न इसे इस समाज के लिए ही योग्य समझा
ाना चाहिए।

२– दूसरी बात यह है कि क़ानून को अनिवार्य रूप से समाज
 लिए मौलिक विचारों एवं धारणाओं से सहमत उसके सांस्कृतिक
सूल एवं मूल्यों का सही चित्र और उसकी भावनाओं एवं एहसासों
ा आइना होना चाहिए। सही और सफ़ल क़ानून की विशेषता यह
ानी चाहिए कि जिन लोगों पर उसे लागू किया जाए, वे उससे
ानसिक तौर पर परिचित हों। उनके अन्दर उसके आदर सम्मान
ी भावना हो और वे उसकी प्रसन्नचित पाबन्दी करने के लिए
यार हों। ऐसा न हो कि वे उसे एक ना पसन्दीदा बोझ महसूस करें,
जसे अपने सर से उतार फेकने की कोशिश में लगे रहें ओर उसके
ाथ बराबर आंख मिचोली खेलते रहें। अक़्ल और अनुभव दोनों
ा फ़ैसला यह है कि किसी क़ानून में यह विशेषता उसी समय पैदा
ा सकती है और समाज के अन्दर व्यावहारिक स्थान उसी समय
ासिल हो सकता है जब वह उसके उसूलों और मल्यों की आत्मा
ो अपने अन्दर समोए हुए हो और उसकी जड़ें उसके विचारों और
ावनाओं से जुड़ी हों।

यदि सोचिए तो मालूम होगा कि इन दोनों बातों में से दूस बात पहली बात से ज्यादा महत्त्वपूर्ण और सही ही नहीं, बल्कि ब हद तक उसकी बुनियाद भी है। क्योंकि कोई भी क़ानून सफ़लता प्रगति का वास्तविक साधन उस समय तक कदापि नहीं साबित सकता, जब तक कि समाज के उसूलों व मूल्यों और विचारों ए भावनाओं ने उसे न बनाया हो। गोया क़ानून के लिए पहली औ आख़िरी ज़रूरत केवल इस बात की है कि उसकी बुनियाद समाज उसूलों एवं मूल्यों पर रखी जाए। इस के बिना न वह एक अच्छ और कामयाब क़ानून बन सकता है, न समाज को भलाई कामयाबी प्रदान कर सकता है। और जब यह सब कुछ नहीं क सकता तो उसे लोगों पर थोपने या छा जाने का कोई हक़ भी न पहुंचता। ऐसा तथाकथित क़ानून यदि अपने लिए कोई क़ौम स्व बनाती है तो यह असल में उसकी सांस्कृतिक आत्महत्या होगी औ यदि कोई दूसरी ताक़त उसे उस पर थोपती है तो यह उसव सांस्कृतिक हत्या होगी।

मुस्लिम पर्सनल ला किस तरह का क़ानून है–

क़ानून के बारे में इस अहम उसूली हक़ीक़त को निगाह रखिए और फिर उस क़ानून के मामले को लीजिए, जिसे 'मुस्लि पर्सनल ला' (मुसलमानों का व्यक्तिगत क़ानून) कहा जाता है, इ क़ानून का मुसलमानों का व्यक्तिगत क़ानून होने का खुला हुअ मतलब यह क़रार पाएगा कि वह मुसलमानों के सामुदायिव मिज़ाज से एक ख़ास सम्पर्क रखता है और उनके विशेष विचार एवं धाराणाओं की निशानी और उन के उसूल व मूल्यों का चित्र है वर्ना संभव नहीं था कि वह वजूद में आता और चौदह सौ बरस

उन पर लागू और शासन करता। इसलिए इस क़ानून के बारे में सोचने समझने और किसी बहस व बात चीत का हक़ अदा कर सकने के लिए सबसे प्रथम ज़रूरत, बल्कि अहम शर्त इस बात की है कि इस ख़ास सम्पर्क की क़िस्म मालूम कर ली जाए और मुसलमानों के उन विशेष विचारों एवं धारणाओं को पूरी छानबीन के साथ निर्धारित कर लिया जाए जो इस क़ानून का स्रोत हैं। मुसलमान स्पष्ट रूप से क़ोई भौगोलिक या नस्ली या भाषायी या ऐसी ही किसी और तरह की क़ौम होने के बजाए एक बिल्कुल सैद्धान्तिक और उसूली मिल्लत हैं। इस हक़ीक़त को सामने रखते हुए दो बातों की संभावना है।

१– इसकी भीं कि मुसलमानों का वह ख़ास स्वभाव और उनके वे ख़ास विचार और दृष्टिकोण जो उनके पर्सनल ला की बुनियाद बने हैं, केवल उनकी क़ौमी ज़िंदगी के विशेष सास्कृतिक हालात और सामाजिक ज़रूरत की पैदावार हों।

२– इसकी भी कि वह इससे आगे बढ़कर उनकी ठीक ठीक सैद्धान्तिक और उसूली हैसियत का प्राकृतिक नतीजा हो। दुनिया के क़ानूनों में दोनों ही तरह के पर्सनल ला पाए जाते हैं। किसी क़ौम का व्यक्तिगत क़ानून यदि पहली तरह का है या रहा है तो किसी का दूसरी तरह का देखने में आता है। स्पष्ट है कि मुस्लिम पर्सलन ला की इन दोनों मुमकिन प्रकारों या हैसियतों में बहुत बड़ा फ़र्क़ है। पहली हैसियत का मतलब होगा कि यह क़ानून मुसलमानों के केवल क़ौमी अन्तर और उनकी सामुदायिक व्यक्तित्व के लिए अहमियत रखता है और वह केवल ऐसी रस्मों, क़ायदों का संग्रह है जिन्हें अपनी समझ से स्वयं तैयार कर लिया था और अब वे रिवायती तौर पर उनकी जीवन व्यवस्था का एक हिस्सा बन चुका है। दूसरी

हैसियत का मतलब यह होगा कि इस क़ानून का रिश्ता सीधे उनके अक़ीदों और जीवन के उसूलों से जुड़ा हुआ है और यह भी इसी दीने शरीअत का एक अंश है जिसमें वे ईमान रखते हैं और जिसकी पूर्ण पैरवी की व्यवस्था रखने ही का नाम असल में मुसलमान होना और मुसलमान बाक़ी रहना है। दूसरे शब्दों में यह क़ानून हक़ीक़त में उनका बनाया हुआ नहीं है, बल्कि वे स्वयं उसके बनाए हुए हैं। इस क़ानून को समझने और इस पर टिप्पणी करने के योग्य होने के लिए इसके स्रोत का पता करना बजाए खुद ज़रूरी था ही, लेकिन अब यह सवाल सामने आ जाने के बाद कि उसकी असल हैसियत कौन सी है, पहली या दूसरी, यह और ज़रूरी हो गया है, क्योंकि जब तक इस सवाल का जवाब नहीं मालूम हो जाता और इस क़ानून की वास्तविक हैसियत निर्धारित नहीं हो जाती, उस समय तक इस के बारे में किसी उचित बहस या बातचीत का सवाल पैदा ही नहीं होता। अगर इस तरह की बहस का सवाल उठाया जाएगा तो वह न शोध पर आधारित होगा, न ज्ञान पर, न यथार्थ पर आधारित होगा, और न ईमानदार ही होगा। इसलिए ज़रूरी है कि सबसे पहले इसी मौलिक हक़ीक़त को तलाश और निर्धारित कर लिया जाए ताकि आगे हम सही लाइन पर बढ़ सकें।

शोध का सही तरीक़ा

इस बात में दो राए नहीं हो सकती कि तर्क के आधार पर इस तलाश व शोध का उचित और सही तरीक़ा एक ही होगा और वह यह कि मुसलमान जिस दीन के मानने वाले हैं उसी का अध्ययन किया जाए और उसके असल स्रोतों 'क़ुरआन और सुन्नत' का खुल कर जायज़ा लेकर देखा जाए कि जिस चीज़ को मुस्लिम पर्सनल ला कहा जाता है, उसका उनके पन्नों में कोई वजूद है या नही...? यदि है तो

किस हैसियत से और किस अहमियत के साथ...? इस जायज़े से यदि स्थिति यह नज़र आती हो कि कुरआन और सुन्नत इस क़ानून के वर्णन से पूरी तरह ख़ाली हैं तो यह इस बात का सबूत होगा कि उसकी कोई धार्मिक हैसियत नहीं है और उसकी जो भी अहमियत है, वह केवल क़ौमी एतबार से और सांस्कृतिक पहलुओं से है।

और यदि स्थिति दूसरी दिखाई दी तो फिर हक़ीक़त भी दूसरी ही क़रार पाएगी और इस क़ानून की हैसियत को धार्मिक और शरअी मानना अति आवश्यक हो जाएगा।

मुस्लिम पर्सनल ला के सम्बन्ध में प्रमाणित तथ्य

अब जहां तक, कुरआन व सुन्नत के जायज़ों का संबंध है, उसके नतीजे में निम्न तथ्य पूरी तरह स्पष्ट और अभिन्न शक्ल में हमारे सामने आते हैं–

१. किताब व सुन्नत का अहम अध्याय

सब से पहली हक़ीक़त तो यह है कि मुसलमानों की पारिवारिक जिंदगी और दूसरे व्यक्तिगत मामलों के बारे में कुरआन व हदीस के अन्दर हिदायत और आदेश मौजूद हैं और पूरी व्याख्या के साथ मौजूद हैं। चुनांचे उनके पन्ने उलटते जाइए और इन आदेशों और हिदायतों का बराबर अध्ययन करते जाइए। निकाह, मेहर और नफ़क़ा तलाक़ खुलअ और एला, इद्दत और नसब का प्रमाण, पालन पोषण, विरासत, वसीयत, वक़्फ़ और हिबा आदि समस्याओं में से कोई भी समस्या ऐसी न मिलेगी जिससे उन्होंने बहस न की हो,

हिदायत न दी हो, उसूल और क़ानून न मुक़र्रर किए हों। यह इतनी खुली हुई हक़ीक़त है कि इसके लिए संबंधित आयतों और हदीसों का यहां हवाला देना बिल्कुल अनावश्यक है। जो व्यक्ति भी चाहे, क़ुरआन हकीम के किसी अनुवाद ही पर एक नज़र डाल कर उसकी तस्दीक़ कर सकता है।

फिर बात केवल इतनी ही नहीं कि व्यक्तिगत क़ानून किताब व सुन्नत में मौजूद हैं, बल्कि यह भी है कि बड़ी व्याख्या के साथ मौजूद हैं और जिस विस्तार के साथ क़ुरआन में इन्हें बयान किया गया है, उस विस्तार से जीवन के किसी भी विभाग से संबंध रखने वाले आदेशों के बयान में काम नहीं लिया गया है। हद यह है कि नामज़, ज़कात, रोज़ा और हज जैसे मौलिक कार्यों के बारे में भी ऐसी व्याख्या नहीं की गई है। ज़ाहिर है कि यह बात किसी मस्लहत और ज़रूरत के बिना नहीं हो सकती थी। इस ज़रूरत और मस्लहत के निर्धारण में मुमकिन है कि एक से ज़्यादा राए हों, लेकिन इस बारे में दो राऐं नहीं हो सकती कि व्यक्तिगत क़ानूनों के बयान में असाधारण व्याख्या से काम लेना क़ुरआन की निगाह में उनकी ख़ास अहमियत की दलील है।

२. अल्लाह के आदेश होने का स्पष्टीकरण

क़ुरआन और सुन्नत में किसी हुक्म का उल्लेख होना स्वय यह अर्थ रखता है कि उसकी पाबन्दी मुसलमानों पर अनिवार्य है और अलग से उसकी व्याख्या करने की कोई ज़रूरत नहीं। इसलिए

बहस किए जाने वाले व्यक्तिगत क़ानून जब कुरआन व सुन्नत में मौजूद हैं तो उनकी पैरवी भी निश्चय ही अनिवार्य होनी चाहिए। लेकिन कुरआन ने इस उसूली हक़ीक़त पर भरोसा करके इन क़ानूनों को केवल बयान कर देने पर ही बस नहीं कर लिया है बल्कि क़दम-क़दम पर उनके फ़र्ज़ और वाजिब होने की व्याख्या भी करता गया है। मिसाल के तौर पर निकाह के कुछ आदेश देने के बाद एक जगह इर्शाद होता है कि–

'तुम पर अल्लह ने (इन कानूनों को) फ़र्ज़ ठहरा दिया है।'
(सूर : निसा २४)

एक और स्थान पर फ़रमाया जाता है कि–

'यह अल्लाह का हुक्म है, वह तुम्हारे बीच फ़ैसला करता है।'
(मुमतहिना १०)

इसी तरह तलाक़ और खुलअ के बारे में कुछ आदेश बयान कर के सचेत किया जाता है कि–

ये अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमायें हैं तो इनका उल्लंघन न करना।'
(बक़रा-२२९)

इद्दत के बारे में कुछ हिदायतें देकर याद-देहानी कराई जाती है कि–

'यह अल्लाह का हुक्म है जो उसने तुम्हारे पास भेजा है।'
(तलाक़-५)

एक और जगह तलाक़ और इद्दत के बारे में कुछ आदेश दे कर उन्हें 'हुदूदुल्लाह' (अल्लाह की निर्धारित की गई सीमाएं) के नाम से परिचित कराया गया है।

विरासत के क़ानून के बारे में तो यह व्याख्या असाधारण रूप धारण कर गई है, चुनांचे उन्हें बयान करते समय सबसे पहले भूमिका ही के अन्दर साफ़ तौर से फ़रमाया जाता है कि—

'मर्दों का (भी) उस तर्के में हिस्सा है, जिसे माता-पिता या निकट के रिश्तेदारों ने छोड़ा है और औरतों का (भी) उस तर्के में हिस्सा है, जिसे माँ-बाप और निकट के रिश्तेदारों ने छोड़ा हो। यह तर्का कम हो या ज़्यादा, यह एक तै शुदा हिस्सा है।'
(निसा-७)

फिर जब इन क़ानूनों के बारे में बयान की शुरूआत होती है तो इन शब्दों से होती है—

'अल्लाह तुम्हें तुम्हारी औलाद के विरासत के हक़ के सिलसिले में इस बात की वसीयत करता है कि.....
(निसा ११)

इसके बाद अभी उन क़ानूनों का एक हिस्सा ही बयान हो चुकता है कि बीच में ठहर कर फिर बताया और याद दिलाया जाता है कि—

'ये (विरासत के हिस्से) अल्लाह की ओर से मुक़र्रर किए हुए हैं। निश्चय ही अल्लाह सब कुछ जानने वाला और बड़ी हिकमत वाला है।' (निसा-११)

और फिर जब इस बयान का समापन होता है तो इन शब्दों के साथ होता है—

'यह अल्लाह की ओर से वसीयत (अर्थात ताकीद और हिदायत) है और अल्लाह सब कुछ जानने वाला है और

समझबूझ वाला है। ये अल्लाह की मुक़र्रर की हुई सीमाएं हैं.....'

(निसा-१२-१३)

इस तरह इन विरसात के क़ानूनों के बारे में एक दो नहीं, बल्कि शब्दों और शैली के परिवर्तन के साथ पांच बार इस हक़ीक़त पर ज़ोर दिया गया है और इसे ज़ेहनों में उतारा गया है कि ये अल्लाह के मुक़र्रर किए हुए और अनिवार्य ठहराए हुए क़ानून हैं।

क़ुरआन की इन व्याख्याओं के होते हुए कोई अनुचित से अनुचित दलील भी इस विचार को सही नहीं ठहरा सकती कि ये क़ानून मुसलमानों के लिए किसी समय अनावश्यक भी हो सकते हैं और इन्हें अपने बनाए हुए क़ानूनों की सतह पर रखा जा सकता है।

३. इस्लामी मूल्यों का सूचक

तीसरी बात यह है कि ये क़ानून इस्लाम के बुनियादी उसूलों व उद्देश्यों को सहारने वाले और इनके रक्षक हैं और इनके अन्दर रूह उन मूल्यों की मौजूद है जो दीन का असल हैं। इस तरह यह मुसलमानों की व्यक्तिगत ज़िंदगी के मामलों को न केवल व्यवस्थित करने ही का साधन नहीं है, बल्कि उनके अन्दर ईमानी तक़ाज़ों और इस्लामी मूल्यों को समोए रखने का भी एक ज़रूरी वसीला है। मिसाल के तौर पर निकाह के मसअले में इस्लाम का एक बुनियादी क़ानून यह है कि मुशिरकों के साथ निकाह का रिश्ता बिल्कुल क़ायम नहीं किया जा सकता। इसकी वजह क़ुरआन ने यह बताई है कि ऐसा रिश्ता मुसलमान को ईमान और इस्लाम की दौलत और आख़िरत की सफलता से महरूम कर देने का कारण बन सकता है।

(सूरः बक़रा)

चूंकि इमान की दौलत एक मुसलमान की सब से क़ीमती वस्तु होती है और आख़िरत की सफलता ही उसका वास्तविक उद्देश्य होता है, इसलिए इसकी सुरक्षा इस्लाम का एक मौलिक उसूल होना ही चाहिए था और इसके लिए मुश्रिकों से निकाह पर प्रतिबंध लगाना बहरहाल उचित और ज़रूरी था। इसी तरह इस्लाम ने न्याय की शर्त के साथ एक से अधिक निकाह की इजाज़त दे रखी है और इसका दरवाज़ा बन्द नहीं कर दिया है। यह इजाज़त भी बहुत सी सामाजिक और नैतिक मस्लहतों की ख़ातिर दी गई है और इन में सब से ज़्यादा अहम और मुख्य उद्देश्य यतीमों के अधिकारों की हिफ़ाज़त है। (निसा-३)

एक और मिसाल तलाक़ की लीजिए। इस्लाम ने वैवाहिक रिश्ते को बड़ा अहम और बड़ा आदरणीय रिश्ता क़रार देने के बावजूद तलाक़ और ख़ुलअ की भी गुंजाइश रखी हैं और इसका उद्देश्य यह बताया है कि अल्लाह की सीमाओं को बराबर रौंदते रहने से बचाया जाए। (बक़रा-२२९)

अर्थात आपसी नाराज़गी और नफ़रत के कारण दाम्पत्य जीवन का उद्देश्य यदि दोनों की आंखों से बुरी तरह ओझल हो चुका हो, सुलह की कोई आशा बाक़ी न रह गई हो और अब इस रिश्ते को बरक़रार रखना गोया अपने चरित्र को दाग़दार बनाने और उन अधिकारों एवं कर्तव्यों को बर्बाद करते रहना है जो अल्लाह ने एक के दूसरे पर वाजिब किये हैं तो यह एक खुला हुआ सामाजिक फ़साद होगा और चूंकि इस्लाम जीवन के किसी स्थल में फ़साद और झगड़े को बिल्कुल पसन्द नहीं करता और इस सामाजिक फ़साद की रोकथाम पति-पत्नी में अलगाव के बिना मुमकिन ही नहीं रह

जाती, इसलिए इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अलग होने की इजाज़त देना ज़रूरी समझा गया।

इन मिसालों से आसानी से यह महसूस किया जा सकता है कि इस्लाम के व्यक्तिगत क़ानून केवल क़ानून ही नहीं हैं, बल्कि इसके अपेक्षित उद्देश्यों और मूल्यों को भी सराहने वाले हैं।

४. ईमान व नजात की शर्तें

चौथी हकीकत क़ुरआनी शिक्षाओं से यह भी स्पष्ट होती है कि उपरोक्त क़ानूनों पर अमल करना ईमान के लिए अनिवार्य और नजात की शर्त है। यह हकीकत प्रत्यक्ष में स्पष्टीकरण की मुहताज नहीं थी, क्योंकि ख़ुदा की किताब और नबी (सल्ल०) की सुन्नत में इनका मौजूद होना इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं रखता कि एक मुसलमान के लिए इन पर अमल करना उसके ईमान व इस्लाम का ज़रूरी तक़ाज़ा हो, लेकिन मालूम है कि कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो ऐसी हुज्जतबाज़ी पर उतर आ सकते हैं कि किसी क़ानून का क़ुरआन में उल्लेख और अल्लाह का मुक़र्रर किया हुआ होना इस बात का लाज़िम नहीं कि वह दोनों हैसियत रखता हो और शरीअत का अंश हो, वह इसके बावजूद भी सांसारिक और ग़ैर-दीनी क़िस्म का क़ानून हो सकता है और इसका फ़ैसला कि कौन सा हुक्म क़ुरआनी और दीनी हैसियत का मालिक है और कौन सा सांसारिक हैसियत का, इस मामले का पता इससे होगा जिससे यह हुक्म ताल्लुक़ रखता है। चूंकि वे मामले जिन से व्यक्तिगत क़ानून संबंधित हैं ख़ास सांसारिक क़िस्म के हैं, इसलिए उन्हें भी सांसारिक हैसियत को सहारने की गुंजाइश तो कम से कम बहरहाल मौजूद है [1]

---

१. यह कोई कल्पना नहीं है बल्कि एक हकीक़त है। डा० राजेन्द्र गडकर जैसा बुद्धिजीवी "भारत की एकता" के शीर्षक पर भाषण देते

इसलिए ज़रूरी है कि कुरआन हकीम की ये शिक्षाएं भी सुन ली जाएं कि ये ऐसे आदेश हैं, जिनकी पाबन्दी ईमान का तकाज़ा और खुदापरस्ती का ज़रूरी अंश है और उनका उल्लंघन ज़ुल्म है, गुनाह है, कुफ़्र है, अज़ाब का कारण है। चुनांचे विरासत के कानून बयान करने के बाद इर्शाद होता है कि—

हुए साफ़ शब्दों में कहता है कि "मुस्लिम बिरादरी के लिए सैकयुलरिज़्म का ऐलान है कि समान सिविल कोड और बहुपत्नी विवाह को ख़त्म करने के मसले पर केवल समाजी बुनियादों पर ग़ौर होगा, कुरआन के हवाले से नहीं।" ('कौमी आवाज़' १६ दिसंबर १९७०)

इसी तरह प्रो० फ़ैज़ी साहब जिनको दुर्भाग्य से मुस्लिम पर्सनल ला पर अथार्टी कहा जाता है। अपने एक वक्तव्य में फ़रमाते हैं कि—मुक़द्दस कुरआन बहस व मुबाहसे से ऊंची आसमानी किताब है, लेकिन इसमें कुछ चीज़ें एसी भी हैं जिन्हें बदल देने की ज़रूरत है जैसे बहुपत्नी विवाह, पर्दा ओर तलाक'। (स्टेट्स मैन दिल्ली. ११ अगस्त १९७०)

स्पष्ट है कि एक तरफ़ तो किसी हुक्म को कुरआन में मौजूद तस्लीम करना, दूसरी तरफ़ उसे किसी भी योग्य न मानना या संशोधन योग्य ठहराना उसी समय संभव है जब उसे कुरआन का अंश होने के बावजूद दीन व ईमान से ग़ैर-मुताल्लिक ख़्याल किया जाए, ख़ासतौर पर ऐसी शक्ल में जब कि साथ ही कुरआन को पवित्र और बहस व मतभेद से ऊंची आसमानी किताब भी मानते हों।

'ये (क़ानून) अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं जो कोइ अल्लाह और उसके रसूल का कहा मानेगा (और उसका ख़्याल रखेगा) उसे अल्लाह ऐसे बाग़ों में दाख़िल करेगा, जिनके नीचे नहरें बह रही होंगी। इन बाग़ों में वह हमेशा रहेगा और यही बड़ी कामयाबी है और जो कोई अल्लाह और उसके रसूल की अवज्ञा करेगा और उसकी मुक़र्रर की हुई सीमाओं का उल्लंघन कर जाएगा उसे वह जहन्नुम की आग में डाल देगा, जिस में वह हमेशा पड़ा रहेगा और उसके लिए बड़ा दर्दनाक अज़ाब होगा।' (निसा १३-१४)

अल्लाह का यह इर्शाद इस बात का साफ़ एलान करता है कि क़ुरआन के दिए हुए विरासत के आदेशों की पैरवी का फल आख़िरत की सदा रहने वाली सफ़लता और उनके उल्लंघन का नतीजा आख़िरत की हमेशा वाली नाकामी के रूप में सामने आएगा।

इसी तरह तलाक़ के कुछ आदेश देने के बाद फ़रमाया जाता है–

'यह नसीहत (अल्लाह के हुक्म पर अमल करने की तुम में से उन लोगों को की जाती है जो अल्लाह और आख़िरत के दिन पर ईमान रखते हैं। (बकरा -२३२)

मतलब यह कि इन आदेशों पर अमल करना और मोमिन होना क़ुरआन की निगाह में एक दूसरे के लिए ज़रूरी चीज़ है। मुमकिन नहीं कि एक व्यक्ति सच्चे दिल से मुसलमान भी हो और साथ ही इन आदेशों से मुंह भी फेरे।

सूरः मुजादला में ज़हार के आदेश बयान करने के बाद उनका महत्व इन शब्दों में बयान किया गया है–

'ये आदेश (इसलिए दिये गए हैं) ताकि तुम अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान रखने वाले बनो और ये अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं और इन्कार करने वालों के लिए दर्दनाक अज़ाब होगा।' (आयत-४)

'व लिल काफ़िरीना अज़ाबुन अलीम' के शब्द यहां जि संदर्भ में आए हैं इससे कुरआन की मन्शा स्पष्ट तौर पर यह दिख दे रही है कि ऊपर बयान होने वाले ज़हार के आदेश ठुकरा देने बाद कोई व्यक्ति ईमान के दायरे में बाकी नहीं रह सकता।

दीन का अंश होने का स्पष्ट सबूत

इस्लाम के व्यक्तिगत क़ानून के बारे में कुरआन की बयान हुई उन सारी हक़ीक़तों को जो असल में जुड़वां हक़ीक़तें हैं और में से एक भी अगर अल्लाह और रसूल के कलाम में मौजूद थी बाक़ी तीनों का पाया जाना भी बिल्कुल ज़रूरी था, सामने रखि और फ़ैसला कीजिए कि ये क़ानून इस्लाम का अंश हैं या नह यक़ीन के साथ कहा जा सकता है कि इस सवाल का जवाब न देना न अक़्ल के लिए मुमकिन है न इल्मी दयानत के लिए, क्यों यह तो बिल्कुल आंखों देखा इन्कार होगा। ऐसे स्पष्ट गवाहों मौजूदगी में हर समझदार इन्सान की ज़ुबान इस एतराज़ मजबूर होगी कि ये क़ानून निश्चय ही कुरआन व सुन्नत ही का ए अध्याय हैं, वैसा ही अहम अध्याय जैसा अहम इन का कोई अ अध्याय हो सकता है। ये आदेश दीन व शरीअत ही का एक हिस हैं– ऐसा हिस्सा जिसे कभी उससे अलग नहीं किया जा सकता अ जिसके बिना इस्लाम की तस्वीर बन ही नहीं सकती। आख़िर

आदेश अल्लाह की किताब में स्पष्ट रूप से मौजूद हों, जिनकी व्याख्या नबी (सल्ल०) के इर्शादों में पायी जा रही हो, जिनको क़ुरआने हकीम ने स्वयं हुदूदुल्लाह (अल्लाह की मुक़र्रर की हुई सीमाएं) क़रार दिया हो, जिन्हें अल्लाह की ओर से फ़र्ज़ और वसीयत फ़रमाया गया हो, फिर जो क़ुरआन के दिए मात्र आदेश ही न हों, बल्कि उसके बुनियादी उसूल व उद्देश्य और उसके अटल नैतिक मूल्यों का हासिल भी हों और सबसे आख़िरी बात यह है कि जिनकी पैरवी को उसने ईमान के लिए अनिवार्य और नजात की शर्त ठहराया हो ऐसे आदेशों को भी यदि दीन का आदेश न कहा जाए तो दीन व इस्लाम का अर्थ ही क्या रह जाएगा? यदि कोई व्यक्ति चाहे तो यह बहस अवश्य उठा सकता है कि इस तरह के क़ानूनों को दीन व शरीअत का आदेश होना ही नहीं चाहिये था और न इंसान की सांस्कृतिक और सामाजिक ज़िंदगी से क़ुरआन व सुन्नत को हस्तक्षेप करना चाहिए था? बल्कि और ज़्यादा खुल कर वह यह भी कह सकता है कि सिरे से यह क़ुरआन और यह इस्लाम ही भरोसा न करने वाली चीज़ें हैं। लेकिन उसे यह कहने का कोई हक़ नहीं कि अमुक आदेश यद्यपि क़ुरआन के अन्दर मौजूद हैं और उस ने इन्हें पूरी ताक़त से मानने योग्य, ईमान के लिए शर्त और आख़िरत की नज़ात की शर्त क़रार दे रखा है, लेकिन इसके बावजूद उनकी कोई धार्मिक अहमियत नहीं है। यह तो एक ही समय में दिन के वजूद के इक़रार और सूरज के वजूद के इंकार जैसी हठधर्मी की बात होगी।

मुस्लिम नहीं, इस्लामिक ला

हक़ीक़त साबित हो जाने के बाद कि मुस्लिम पर्सनल ला कहे जाने वाले आदेश असल में दीन ही का अंश हैं और इनकी हैसियत उन दूसरी क़ौमों के व्यक्तिगत क़ानूनों से पूरी तरह भिन्न है, जिन्होंने उन्हें स्वयं तैयार कर रखा है, उन्हें मुस्लिम पर्सनल ला कहना भी सही अर्थों में यदि ग़लत नहीं, तो ग़लत सोच अवश्य है। आपने देखा कि ये क़ानून मुस्लिम नहीं, बल्कि इस्लामी क़ानून हैं। इनका स्रोत मुसलमानों की अपनी अक़्ल व समझ, अपनी पसन्द और अपनी सोच नहीं, बल्कि कुरआन व सुन्नत है। इस लिए इन्हें मुस्लिम पर्सनल ला के नाम से याद करना जाने या अनजाने उनकी असल हैसियत पर पर्दा डाल देना है। चुनांचे उनका यह नाम भी अंग्रेज़ी दौर का एक अशुभ उपहार है, जिसमें मुसलमानों की सभ्यता और उनके दीन को क्षति पहुंचाने और उनकी धारणा को मिटा डालने की लगातार कोशिशें होती रहती थीं। इसी इस्लाम दुश्मन या इस्लाम से अनभिज्ञ सोच के नतीजे में कुरआन और इस्लाम के आदेशों को 'कुरआनिक ला' या इस्लामिक ला कहने के बजाए मुहम्मदन ला का नाम अपनाया गया और क़ानून की किताबों और अदालतों में इसे रिवाज देकर आम ज़बानों पर इस तरह चढ़ा दिया गया, गोया इसके सही और हक़ीक़त के अनुसार होने में कोई संदेह ही नहीं। और फिर इसी के नतीजे के तौर पर इन

शरीअत के आदेशों को जो मुसलमानों के व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखते हैं,'मुस्लिम पर्सनल ला' का नाम दे दिया गया। यद्यपि वे मुस्लिम नहीं, 'इस्लामिक ला' थे इसलिए ईमानदारी और सच्चाई का तक़ाज़ा यह है कि इन आदेशों को उनके इसी असल नाम से याद किया जाये। यह केवल हक़ीक़त पसन्दी ही का तक़ाज़ा नहीं है, बल्कि इससे बढ़ कर ज़रूरत का भी तक़ाज़ा है। आज इस्लाम से **अनभिज्ञता** का यह हाल है कि कितने शिक्षित कहे जाने वाले लोग भी किसी चीज़ के 'इस्लामी' और 'मुस्लिम' होने में अन्तर नहीं करते। ऐसी परिस्थिति में यदि मुस्लिम पर्सनल ला का सुधार इसी तरह जारी रहता है तो इसका प्राकृतिक नतीजा यही होगा कि इन शरीअत के आदेशों की असल तस्वीर आम निगाहों को दिखायी न दे सकेगी। लोग यही विचार करेंगे कि यह तो मुस्लिम पर्सनल ला ही है इसका इस्लाम से कोई ताल्लुक़ नहीं। सारा ताल्लुक़ इसका केवल मुसलमानों से है और यह मुसलमान नामी क़ौम के वैसे ही सांस्कृतिक क़ानून हैं जैसे कि दुनिया कि बहुत सी क़ौमों के व्यक्तिगत क़ानून धर्म से आज़ाद और बिल्कुल सांस्कृतिक बनाए हुए हैं। क्या इतनी बड़ी बुनियादी ग़लत फ़हमी को बाक़ी रखना और इसे परवरिश करते रहना न्याय और ईमानदारी की बात है?

दीन का अंश होने की तर्क पूर्ण वजह

आगे बढ़ने से पहले उचित होगा कि यहां ज़रा ठहर कर वह वजह भी समझ ली जाए जिसके नतीजे में इस्लामी शिक्षाओं का क्षेत्र पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं तक फैला हुआ है। यह

वजह उन मौलिक धारणाओं में पाई जाती है जो कुरआन ने 'अल्लाह, दीन और इबादत (उपासना), के बारे में बयान किए हैं और जिनके सिवा हर धारणा या तो ग़लत है या अज्ञानता है असत्य है। इन का आवश्यक स्पष्टीकरण संक्षिप्त शब्दों में यह है–

'ख़ुदा वह हस्ती है जिसने सारी सृष्टि को पैदा किया है। वह हर जीव का पालनहार है वह रब होने, न्याय करने, हिकमत, रहमत, शक्ति और ज्ञान आदि सारी विशेषताओं से पूरे तौर पर परिपूर्ण है। वह जिस तरह पूरी सृष्टि का पैदा करने वाला और पालने वाला है, इसी तरह उसका प्रबन्धक और व्यवस्थापक भी है, मालिक और आक़ा भी है। स्वामी और हाकिम भी है, क़ानून बनाने वाला भी है और क़ानून देने वाला भी। उपास्य भी है और रक्षक भी। दूसरा कोई भी उसकी इन विशेषताओं में, उसकी इन हैसियतों में, उस के इन अधिकारों में कण बराबर भी साझी नहीं है, इसलिए उपासना के योग्य केवल वही है और वास्तविक आज्ञापालन का अधिकारी भी वही है।'

दीन (धर्म अल्लाह के इस हिदायत नामे अर्थात आदेशों व क़ानूनो के संग्रह का नाम है जो उसकी तरफ़ से इन्सानों को सीधा रास्ता दिखाने, हक़ की राह पर चलाने और वास्तविक सफलता की मंज़िल तक पहुंचाने के लिए प्रदान किया गया है। यह अल्लाह के आदिल, (न्याय करने वाला) हकीम, (हिकमत वाला) पालनहार और सर्वशक्तिमान होने का ज़रूरी तक़ाज़ा था कि वह इन्सान को उसकी नैतिक और आध्यात्मिक ज़िंदगी के लिए भी जीने के सामान उपलब्ध करे जिस तरह उसने उनकी भौतिक ज़िंदगी के लिए उपलब्ध कर रखा है, वर्ना उसकी हिकमत व्यर्थ और उसकी

कूमत बेकार ही साबित होती। दूसरे शब्दों में फिर खुदा-खुदा हलाने ही का हक़दार न होता। दूसरी तरफ़ इन्सान भी इस बात ा ज्यादा सख़्त ज़रूरत मन्द था कि उसे अपने जीवन के उद्देश्य ौर उद्देश्य की प्राप्ति की सही राह से अच्छी तरह ख़बरदार कर या जाता कि इस ज्ञान के मार्गदर्शन में वह अपने लिए जीने की ोधी राह पा सकता और भ्रम और बुरी भावना के अंधेरों में टकता न रह जाता। चूंकि दीन का मन्शा व उद्देश्य यही था।वह सान के पूरे नैतिक जीवन की ज़रूरत की चीज़ था। वह खुदा की कूमत करने और सारे इंसानों का रब होने की विशेषता का क़ाज़ा था, इसलिए वह मानव जीवन के सभी स्थलों पर हावी है। ोई स्थल भी उसका ऐसा नहीं है जो इसके दायरे से पूरी तरह ाहर हो, क्योंकि मानव जीवन का कोई भी मामला ऐसा नहीं जिसके सलसिले में नैतिक पहलू की और उसके अच्छा और बुरा होने की हस न पैदा होती हो, इस लिए ज़रूरी था कि दीन अर्थात अल्लाह की हदायत भी किसी मामले को नज़रंदाज़ न करे और जीवन का कोई भी विभाग उसकी रहनुमाई से महरूम न रहे। यही वजह है कि अल्लाह का यह आख़िरी दीन इस्लाम भी एक-एक करके सारी ही समस्याओं से बहस करता है और इबादतगाह से लेकर सामूहिक जीवन के आख़िरी सिरे तक हर मामले के बारे में हिदायतें देता है। इन सभी हिदायतों के संग्रह का नाम 'दीन' (इस्लाम) है और इस का हर हिस्सा समान तौर पर दीन का अंश है।

इबादत का अर्थ इस्लाम की निगाह में पूजा और उपासना से बहुत विकसित है। खदा की पूजा और उसकी याद निश्चय ही

इबादत की जान है, मगर पूरी इबादत नहीं है। पूरी इबादत यह है कि अल्लाह के भेजे हुए दीन की सम्पूर्ण पैरवी की जाए। किसी भेद-भाव और विभाजन के बिना की जाए और पूरी निष्ठा और सच्ची भावना तथा सच्चे आज्ञापालन के साथ की जाये, जैसा कि अभी मालूम हुआ कि अल्लाह का भेजा हुआ यह दीन एक सम्पूर्ण हिदायत नामा है और समस्त मानव जाति के लिए है। इसलिए अल्लाह की इबादत का हक़ अदा नहीं किया जा सकता जब तक कि इस हिदायत नामे और इस संग्रह के एक-एक अक्षर को दांतों से न पकड़ा जाये और पूरी ज़िंदगी इस हिदायत के हवाले न कर दी जाये।

जब खुदा, दीन और इबादत की सही धारणाएं कुरआन व इस्लाम के निकट ये थीं तो यह किस तरह संभव था कि इंसान के व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखने वाले मामलों से इन्हें कोई बहस ही न होती? या यदि बहस होती भी तो वे न दीन का अंश क़रार पातीं, न इबादत और खुदा-परस्ती के खाने में गिनी जाती। पारिवारिक और सामाजिक मामले भी इसी इंसानी जीवन का एक हिस्सा थे, बल्कि अत्यन्त और हर हाल में जरूरी हिस्से थे। फिर इनको खुदा का दीन किस तरह नज़रदाज कर देता? इनके बारे में हिदायतें न देता? सत्य, न्याय और सच्चाई के तक़ाज़े न बताता? या जो आदेश इनके सिलसिले में उसने दिये हैं, उनका कोई धार्मिक महत्व न होता? उनकी पाबन्दी क़रार न दी जाती? मोमिन व मुस्लिम होने पर उनकी पैरवी करने या न करने का कोई असर न पड़ता—?

निःसंदेह जिन लोगों की धारणा खुदा, दीन और इबादत के बारे में कुछ और है और निःसंदेह अधिकांश लोग ऐसे ही हैं—उनके लिए इस्लाम के व्यकितगत क़ानूनों की धार्मिक हैसियत को समझ पाना और उसे उचित ठहराना बड़ा मुश्किल है, मगर यहां बात उचित

और अनुचित की बिल्कुल नहीं हो रही है, बल्कि असल बात हक़ीक़त की हो रही है और हक़ीक़त यही है जिसका इन्कार किसी तरह नहीं किया जा सकता कि ये क़ानून दीनी हैसियत के मालिक और दीन का अंश है और ऐसा होना कुरआनी शिक्षाओं के अनुसार दीन की धारणा व खुदा की धारणा के तहत बहरहाल ज़रूरी था।

सामुदायिक और सांस्कृतिक महत्त्व

मुसलमानों के व्यक्तिगत क़ानून की जो असल हैसियत और मौलिक महत्त्व है, वह ऊपर की बहस से पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है और इस बारे में और अधिक बहस की कोई ज़रूरत शेष नहीं रह गई है। लेकिन हालात का तक़ाज़ा फिर भी यह है कि इन क़ानूनों की इस हैसियत (दीनी हैसियत) से हट कर बिल्कुल सांस्कृतिक और सामुदायिक पहलू से भी इनके महत्त्व का जायज़ा ले लिया जाए, ताकि जिन लोगों का ज़ेहन किसी न किसी वजह से इनकी दीनी हैसियत को समझ पाने से असमर्थ है, वे भी यह महसूस कर लेने के क़ाबिल हो सकें कि मुसलमान यदि अपने पर्सनल ला को दांतों से पकड़े हुए हैं तो उन्हें ऐसा करना ही चाहिए।

यदि सामुदायिक और सांस्कृतिक मस्लहत को निगाह में रख कर मुस्लिम व्यक्तिगत क़ानून का जायज़ा लिया जाए तो उनके महत्त्व के निम्न पहलू सामने आते हैं—

१. पर्सनल ला—सामुदायिक व्यक्तित्व का जिस्म

पहली बात तो यह कि मुसलमानों के व्यक्तिगत क़ानून उनके

सामुदायिक व्यक्तित्व के लिए उतने ही ज़रूरी हैं जितना कि किसी जीवित शरीर के लिए उसके पट्ठे ज़रूरी होते हैं। इसकी वजह या उसके दावे की सच्चाई मालूम करने के लिए समुदायों और सांस्कृतिक गिरोहों की रचना पर ग़ौर कीजिए और यह देखिए कि—वे किस तरह बना करते हैं? वे कौन से विशेष तत्व होते हैं जो किसी जन-समूह को दूसरे तमाम जनों और गिरोहों से अलग एक अनोखा व्यक्तित्व रखने वाले गिरोह और एक मुस्तक़िल समुदाय की हैसियत दे देते हैं।

इस सोच-विचार के नतीजे में आप देखेंगे कि इस मामले में यद्यपि प्रथम महत्त्व बुनियादी अक़ीदों व धारणाओं ही को हासिल होता है और वही इस समुदाय की अनुपमता का वास्तविक स्रोत हुआ करते हैं, लेकिन साथ ही उन आदेशों व क़ानूनों और उनको बजा लाने की अहमियत भी इस मामले में कुछ कम नहीं होती जिनके तहत इस मिल्लत (समुदाय) के जनों की पूरी ज़िंदगी बसर हुआ करती है। यह इसलिए कि अक़ीदे व विचार आखों से दिखाई देने वाली वस्तु नहीं होते कि वे किसी समुदाय के व्यक्तित्व का सूचक और उसकी अनुपमता की निशानी बन सकें। व्यावहारिक तौर पर सामुदायिक पहचान और अनुपमता की निशानी तो उसके वे ज़ाहिरी तौर-तरीक़े और क़ानून व उसूल ही बना करते और बन सकते हैं जिन्हें वह अपने बुनियादी अक़ीदों व धारणाओं के तहत अपनाए हुए होती है और जिनके अनुसार उसकी ज़िंदगी का पूरा कारोबार चल रहा होता है। फिर चूंकि इन क़ानून व उसूलों के भी विभिन्न विभाग क़ौम की अमली ज़रूरत और उसकी आम ज़िंदगी से व्यावहारिक सम्पर्क के लिहाज़ से समान नहीं होते, इसलिए

नके व्यक्तित्व की रचना में भी उनका अमल दख़ल बराबर का
ीं हो सकता।

जिन क़ानूनों का सम्पर्क क़ौम के लोगों के जीवन से जितना ही
धिक होगा, उनका अमल दख़ल भी उसकी ज़ात की रचना में
तना ही बड़ा होगा। अब हर व्यक्ति जानता है कि इस पहलू से
क्तिगत क़ानून एक विशेष स्थान रखते हैं। रज़ाअत, हज़ानत,
फ़ालत, निकाह, महर, नफ़क़ा, दाम्पत्य अधिकार और कर्त्तव्य,
लाक़, खुलअ, फ़स्ख़ निकाह, विरासत और वसीयत आदि ऐसी
मस्याएं और मामले हैं जिनका व्याबहारिक संबंध सभी लोगों से
ता है और लगभग हर व्यक्ति का जीवन इन से घिरा होता है
बकि जीवन की दूसरी समस्याओं का व्यावहारिक सम्पर्क इसके
क़ाबले में सीमित लोगों के जीवन से होता है या सीमित पैमाने ही
र होता है। इसलिए क़ुदरती बात है जीवन के मामलों को
यवस्थित करने वाले क़ानूनों को सामुदायिक अहमियत भी बहुत
धिक और विशेष रूप से बेहतर होगी और समुदाय की अनुपमता
ौर मुख्य व्यक्तित्व का आधार जितना इन पर होगा, दूसरे क़ानूनों
र कदापि न होगा।

ग़लत न होगा यदि यह कहा जाए कि आम हालात में यही
क़ानून इस अनुपमता और विशेष व्यक्तित्व के आइनेदार होंगे।
यही वे ढांचे होंगे जिसके अन्दर यह व्यक्तित्व पाया जा सकेगा।

२. पर्सनल ला–मिल्लत की रूह का रक्षक

दूसरी बात यह कि व्यक्तिगत क़ानून इस्लामी समुदाय की

सामुदायिक रूह के रक्षक भी हैं। क्योंकि समुदायों की ज़िंदगी और मौत की समस्या पर यदि गहराईं में उतर कर देखा जाए तो नज़र आएगा कि किसी भी मिल्लत के व्यक्तिगत क़ानून की मौजूदगी से इन अक़ीदों व विचारों तक की ज़िंदगी जुड़ी होती है, जिनकी बुनियाद पर उसकी रचना हुई होती है। यह इसलिए कि ये क़ानून यद्यपि असल व बुनियाद नहीं होते, लेकिन उसकी असल व बुनियाद के लिए अत्यन्त ज़रूरी बहरहाल होते हैं।

इसकी मिसाल पेड़ की सी है। पेड़ की शाख़ें और पत्तियां यद्यपि उसकी जड़ ही से निकलती हैं और यही जड़ उनको जीवन और हरियाली प्रदान करती रहती हैं, लेकिन स्वयं यह जड़ भी अपनी ज़िंदगी और हरियाली के सिलसिले में बिल्कुल बे-नियाज़ नहीं होती। चुनांचे जहां जड़ के कट जाने या सूख जाने के बाद शाख़ें और पत्तियां भी सूख कर रह जाती हैं, वहीं देखने में यह भी आता है कि जस पेड़ की पत्तियां और शाख़ें लू की लपेट का शिकार हो गई हों या काट डाली गई हों, उसकी जड़ भी ज़्यादा दिनों तक अपनी ताक़त और हरियाली बाक़ी नहीं रख सकती और धीरे-धीरे सूख कर गल-सड़ जाती है। ठीक यही हाल समुदायों के विचारों एवं धारणाओं का भी है। जब तक इन धारणाओं के अमली तक़ाज़े और नमूने ज़िंदगी के मैदान में शामिल रहते हैं। उस समय तक इन धारणाओं में भी ज़िंदगी और शक्ति मौजूद रहती है। ज्यों ही यह अमली तक़ाज़े और नमूने ज़िंदगी के मैदान से ग़ायब हुए, इन धारणाओं की नब्ज़ (नाडी) भी कमज़ोर पड़ जाती है।

यद्यपि मौलिक धारणाओं के अमली तक़ाजों में वे सारे ही क़ानून होते हैं, जिनके तहत क़ौम अपनी ज़िंदगी बसर कर रही होती

है, लेकिन चुंकि उसके व्यक्तित्व के लिए उसके व्यक्तिगत क़ानून की व्यावहारिक अहमियत सबसे ज़्यादा होती है, जैसा कि अभी मालूम हो चुका है, इसलिए इन क़ानूनों से इसका अमली सहयोग या असहयोग का नतीजा भी इसकी अपनी मौलिक धारणाओं के पक्ष में सबसे अधिक सामने आता है। इन क़ानूनों पर मज़बूती से जमे रहने की शक्ल में इन धारणाओं से मानसिक सम्पर्क अवश्य ही बरक़रार रहता है और यदि इनसे व्यवहारिक रिश्ता कट जाये तो फिर इस सम्पर्क का कमज़ोर, अर्ध जीवन और अन्ततः बेजान होना ज़रूरी हो जाता हैं क्योंकि इन क़ानूनों से असली रिश्ता काट लेने का अर्थ ही यह होगा कि अब वे इस क़ौम की नज़र से उचित और स्वीकार योग्य नहीं रह गये थे और उनको अनुचित और अस्वीकार ठहरा देने का अर्थ निश्चय ही यह होगा कि वे जिन बुनियादी विचारों एवं धारणाओं की पैदावार हैं, असल में स्वयं उन धारणाओं ही की महानता और सच्चाई अब उसके निकट मान्यता प्राप्त और यक़ीनी नहीं रह गई है। यह दूसरी बात है कि उसे अपनी इस बे-यक़ीनी या कम यक़ीनी का स्वयं भी एतराफ़ या समझ न हो।

फिर यह मानसिक परिवर्तन इस हद पर रुक न जायेगा। बल्कि अनिवार्य ही आगे बढ़ेगा और क़ौम कुछ दूसरी ही विचार एवं धारणाओं से प्रभावित होने लगेगी, क्योंकि जब वह अपने व्यक्तिगत क़ानून से असली रिश्ता काट लेगी तो ज़रूरी होगा कि उसकी जगह दूसरा कोई क़ानून का संग्रह अपनाये। स्पष्ट है कि ये दूसरे क़ानून किसी और ही धारणा और दृष्टिकोण के तहत बने होंगे। इसलिए यह बिल्कुल क़ुदरती बात होगी कि जिन धारणाओं के आधार पर बने हुए व्यक्तिगत क़ानून को वह अपना चुकी है

स्वयं उनके लिए भी उसके ज़ेहन के दरवाज़े खुल जाएं। इधर चूंकि उसका ताल्लुक़ अपनी अनुपमता से कमज़ोर पड़ चुका होगा इसलिए वे इस हमले का मुक़ाबला करने में संजीदा न रह जाएगी बात आख़िर यहां तक पहुंच कर रहेगी कि इसके अपने बुनियादी विचारों एवं धारणाओं की चूलें निश्चय ही हिल जाएंगी और अक़्ली तौर पर या ग़ैर अक़्ली तौर पर वे उनके अन्दर रद्दो-बदल कुबूल कर लेने पर तैयार हो रहेगी। इस लिए यह एक हकीक़त है कि किसी मिल्लत का पर्सनल ला जहां उसके व्यक्तित्त्व का ढांचा होता है वहीं उसकी रूह का रक्षक भी होता है।

इस बात की शहादत से क़ौमों और मिल्लतों की तारीख़ भरी पड़ी है और सबसे क़रीब की शहादत स्वयं इस्लामी समुदाय की अपनी ही तारीख़ में मौजूद है।

३. पर्सनल ला से महरूमी सामुदायिक पहचान की मौत

तीसरी बात यह कि अपने पर्सनल ला से महरूम हो जाने के बाद मिल्लत का व्यक्तित्व किसी तरह बरक़रार नहीं रह सकता क्योंकि जिस पर्सनल ला की यह अहमियत हो कि वह क़ौम की ख़ास शख़्सियत का ढांच भी होता है और उसकी रूह का रक्षक भी उससे महरूम हो जाने के बाद भी उसके व्यक्तित्त्व का बाक़ी रह जाना बिल्कुल ग़ैर-मन्तक़ी (बिना दलील) होगा। इस महरूमी का अर्थ स्पष्ट रूप से यही होगा कि उस कौम को अपने व्यक्तित्त्व से महरूम कर दिया गया और उससे उसकी हस्ती छीन ली गई। इसलिए कि जब उसके पर्सनल ला को ख़त्म करके उसके व्यक्तित्त्व के विशेष निशान और रूप रेखाओं को मिटा दिया गया हो और

एक दूसरे ही शरीर में ढाल दिया गया हो, यहां तक कि इस काया पलट के कारण उसकी वैचारिक और काल्पनिक बुनियादें भी हिलती और खोखली होती चली गई हों, तो आख़िर अब भी उसका बदस्तूर जीवित रह जाना सम्भव होगा.....?

इस क्रान्ति के बाद तो किसी दूसरे सांस्कृतिक गिरोह के अन्दर वर्षा की बूंदों की तरह खप कर रह जाना ही उसका भाग्य बन जाएगा। इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं कि इस कौम या मिल्लत के लोगा भी अब बाक़ी न रह जाएंगे, नहीं, वे बाकी रहेंगे और हो सकता है कि वे अपनी जगह जीवन क्षेत्र में प्रगति पर प्रगति भी करते चले जाएं मगर मात्र लोगों का नाम कौम या मिल्लत नहीं होता। ऐसे लाखों और करोड़ों लोगों के मौजूद होते हुए भी कौम की अपनी शख़्सियत (व्यक्तित्व) निश्चय ही अतीत की कहानी बन चुकी होगी।

पर्सनल ला को ख़त्म करना एक ख़तरनाक क़दम

क़ौमों और मिल्लतों के पर्सनल ला की यही वह असाधारण अहमियत है जिसकी वजह से कोई भी मिल्लत जिसके अन्दर स्वाभिमान और अपने को पहचानने की थोड़ी सी क्षमता बाकी हो, अपने पर्सनल ला को जान से ज़्यादा प्रिय रखती है और हर क़ीमत पर उसकी रक्षा करना चाहती है। इससे उसका सैन्द्धान्तिक रिश्ता तो होता ही है, गहरा भावनात्मक लगाव भी होता है। और मालूम होता है कि जिस चीज़ से इन्सान को गहरा भावनात्मक लगाव होता है उसके बारे में उसकी भावनाएं बड़ी नाज़ुक होती हैं, उसकी बर्बादी या उसे ख़त्म करने की कोशिश उसके लिए सहन योग्य

नहीं होती। वह अपना दूसरी चीज़ों से महरूमी चाहे सहन कर ले, लेकिन ऐसी किसी क़ीमती वस्तु से महरूमी की बात वह सोच भी नहीं **सकता**। यही वजह है कि अतीत में महान और शक्तिशाली हुकूमतों ने अपने आधीन क़ौमों का यद्यपि सब कुछ छीन लिया था, लेकिन व्यक्तिगत क़ानूनों पर हाथ डालने की हिम्मत नहीं की थी।

रूसी साम्राज्य और ब्रिटिश एम्पायर इसकी सबसे अधिक रोशन मिसालें हैं। अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर शासकीय क़ब्ज़ा जमाने के बाद उन आम इस्लामी क़ानूनों को जो अब तक यहां लागू चले आ रहे थे धीरे-धीरे ख़त्म करके अपना बनाया हुआ क़ानून जारी कर दिया। मगर जहां तक यहां के नागरिकों के पर्सनल ला का ताल्लुक़ है, उन्हें रद्द नहीं किया। इसक़ी वजह उनके सामने यही हक़ीक़त थी कि यहां के मुसलमानों और हिन्दुओं को अपने अपने व्यकितगत क़ानूनों से जो गहरा भावनात्मक ताल्लुक़ है, उसके लिए वे जान दे देंगे मगर अपने इन क़ानूनों को ख़त्म कराना हरगिज़ गवारा न करेंगे। इस लिए उनकी इस नाज़ुक भावना को छेड़ना उनके लिए अंजाम के लिहाज़ से अत्यन्त हानिकारक होगा।

निश्चय ही जो अब तक हक़ीक़त रही है वह आज बे-हक़ीक़त नहीं बन जाएंगी। पर्सनल ला की यह सांस्कृतिक अहमियत जिस तरह दूसरी क़ौमों और समुदायों के बारे में मानने योग्य नहीं है इसी तरह इस्लामी समुदाय के सिलसिले में भी मानने के योग्य नहीं रहेगी। इसका (मुस्लिम समुदाय का) पर्सनल ला भी उसके व्यक्तित्व के लिए जिस्म की और उसकी सामूहिक रूह के लिए रक्षक की हैसियत रखता है और इससे महरूम हो जाने का नतीजा भी उसकी सामुदायिक पहचान के लिए मौत ही की सूरत में निकलता है, इस लिए यदि इसका रिश्ता उसके दीन व ईमान से न जुड़ा होता तो भी यह उस के लिए जान से कम प्रिय न होता।